साहित्य दर्पण

वार्षिक साहित्यिक विवरणिका

हिन्दी विभाग

गोलाघाट कॉमर्स कॉलेज, गोलाघाट, असम

अंक : 01 **वर्ष : मई 2024–2025**

डॉ. जोनटि दुवरा

विभागाध्यक्षा की ओर से....

यह बहुत ही प्रसन्नता की बात है कि गोलाघाट वाणिज्य महाविद्यालय की हिन्दी विभाग की ओर से गत वर्ष की तरह इस वर्ष भी 'साहित्य दर्पण' नामक पत्रिका प्रकाशित करने जा रहा है। हिन्दी भाषा की ओर आगे बढ़ाना तथा विद्यार्थियों को साहित्य के प्रति रुचि बढ़ाना हमारा उद्देश्य रहा है। 'साहित्य दर्पण' पत्रिका के माध्यम से हम हिन्दी के अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के साहित्य के विविध विधाओं के प्रति ध्यान आकर्षित करने के लिए सुझाव देते हैं। इस पत्रिका के माध्यम से आलोचनात्मक निबंध, कविता, साहित्यिक विषय आदि लेखन की प्रेरणा देते हैं। मुझे विश्वास है कि इस दिशा में 'साहित्य दर्पण' पत्रिका का यह अंक अपनी रचनाओं के माध्यम से सृजनात्मकता को राष्ट्रभाषा में अभिव्यक्त करेगा।

मालोती बांगठाई
सहायक अध्यापिका

प्रति वर्ष की तरह इस वर्ष भी हिन्दी विभाग से वार्षिक पत्रिका 'साहित्य दर्पण' प्रकाशित किया जा रहा है। यह विभाग के लिए अति हर्ष की बात है। इस पत्रिका के माध्यम से विद्यार्थियों को भाषा, साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न कराना हमारा उद्देश्य रहा है, और साथ ही साथ हिन्दी साहित्य के विविध विधाओं को परिचित कराना भी है।

इस पत्रिका से जुड़े हिन्दी विभाग के सभी विद्यार्थियों को मैं आन्तरिक शुभकामनाएं देती हूँ।

अनुस्मिता बोरा

प्रकृति के संग मैं

मैं बैठी थी प्रकृति के उस निर्जन
वृक्ष स्थल पर
चारों तरफ छाई थी
हरियाली की एक महक
जो आजन्मों से पहचान का है।
मैं अकेले बैठी हुई थी
उस धीर गति से चलने वाले
पवन की मजा ले रही थी।
पवन बार-बार मुझे
धीरे से आती हुई सुनते जाती।
मानों मेरे वहाँ बैठने से
प्रकृति को स्तक साथी मिल गयी!
पक्षियों, कीट-पतंगों के झिक-झिर
मधुर स्वर,
नदियों के धीरे-धीरे
शांत रूप से बहते रहना,
मानो प्रकृति थी मुझे
खुश करना चाहते हो।
प्रकृति की उस दृश्य के आगे
मुझे और कोई सोच आया न।
मैं बस खोई सी रह गयी,
उस मन मोहक दृश्य के आगे।
प्रकृति भी मुँह पर मीठी मुस्कान ले
मुझे संग देती रही।

सोनाली सरकार

मैं हूँ इंसान

बात सिर्फ इंसान की थी,
फिर वह जात कहा से आया?
बात सिर्फ कर्म का था,
तो यह धर्म कहा से आया?
मैं हूँ इंसान तु भी इंसान,
सिर्फ यह ही क्यों नहीं है काफी?
मैं हिन्दू तू मुसलमान,
फिर क्यों याद दिलाया है जाती?

सुविचार

आप चाहे जितने
अच्छे शब्द पढ़ लें, सुन लें
या बोल लें, ये शब्द आपका
भला तब तक नहीं करेंगे, ज़ब
तक आप इन्हे अपने जीवन में
उपयोग में नहीं लाते। - गौतम बुद्ध

जब तक तुम स्वयं पर विश्वास नहीं करते,
परमात्मा में विश्वास कर नहीं सकते। - विवेकानंद

चित्रलेखा सैकिया

देवनागरी लिपि का विकास

आधुनिक देवनागरी लिपि का विकास ब्राह्मी लिपि से हुआ है। ब्राह्मी लिपि से गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, नागरी लिपि और इससे आगे देवनागरी लिपि अस्तित्व में आई। नवी शताब्दी तक इसका प्रचार उत्तरी भारत में पूर्ण रूप से हो चुका था। इस मत से अधिकतर विद्वान् सहमत हैं।

देवनागरी लिपि के प्राचीन रूप से अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

1. देवनागरी का सर्वप्रथम प्रयोग गुजरात के राजा जयभट्ट के शिलालेख में मिलता है। यह समय सातवीं से आठवीं शताब्दी ई. का है।

2. राष्ट्रकूट के राजाओं ने आठवीं शताब्दी में और बड़ौदा के राजा ध्रुवराज ने नवीं शताब्दी में अपनी राजाज्ञाओं को नगरी लिपि में ही प्रसारित किया।

3. विजयनगर राज्य और कोंकण में भी देवनागरी का व्यवहार किया जाता था। इनके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं।

कुछ पुष्ट प्रमाणों के आधार पर ही विद्वान् लोग इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि देवनागरी का विकास पहले दक्षिण भारत में हुआ। इसके बाद यह लिपि उत्तरी भारत में आई। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक और विस्तृत रहा है। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, मध्य भारत, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र में अधिकतर ताम्रपत्र, शिलालेख,

हस्तलेख और पांडुलिपियां नागरी लिपि में ही उपलब्ध हुई हैं। देवनागरी लिपि आज भी भारत की प्रधान लिपि है। हिन्दी, मराठी, नेपाली, संस्कृत और हिन्दी की अधिकांश बोलियों में इसी का व्यवहार होता है। महाराष्ट्र में देवनागरी को 'बालबोध' कहा जाता है।

आठवीं शताब्दी ई. से 18 वीं शताब्दी ई. तक देवनागरी लिपि मेवाड़ के गुहिलवंशीय राजाओं, मारवाड़ के परिहार राजाओं, मध्यप्रदेश के हैहयवंशियों, राठौड़ों और कलचूरी राजाओं के अतिरिक्त कन्नौज के गहरवार राजाओं और गुजराज के सोलंकियों में भी प्रचलित रही है।

ग्यारहवीं शताब्दी तक देवनागरी लिपि की आधुनिक वर्णमाला अपना स्थान बना चुकी थी। इससे पहले इसके वर्णों पर शिरोरेखा नहीं खींची जाती थी और अ, छ, प, म, य, श और स की शिरोरखा दो खंड़ों में विभक्त होती थी। धीरे-धीरे बाद में इन्हें जोड़ दिया गया और इन पर एक ही शिरोरेखा खींची जाने लगी। आजकल यह मांग हो रही है कि इसकी शिरोरेखा हटा दी जाए, ताकि यह सरल हो सके और जल्दी लिखी जा सके। गुजराती में तो 17वीं शताब्दी से ही इसकी शिरोरेखा हटा दी गई है। दसवीं शताब्दी में पहले की आकृति को अब बदल दिया गया है और यह प्रयास धीरे-धीरे चलता रहा। आज देवनागरी लिपि के वर्ण वर्तुलाकार होने के कारण सुंदर और आकर्षक बन गए हैं।

अनुभव झा

हिन्दी : राष्ट्र-मंगल की सहज भाषा

वस्तुतः हिन्दी के समान सुस्पष्ट, सरल, सहज और स्वच्छ कोई दूसरी भाषा भूतल पर नहीं है। स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता, राष्ट्रीय एकता की यही अमर वाणी है। आज जहाँ हिन्दी है, वहीं भारतीय राष्ट्रीयता है, जहाँ यह नहीं है वहाँ क्षेत्रीयता, संकीर्णता के विषाणुओं ने जड़ जमा ली है। सन् 1918 ई. में गाँधीजी ने ही इंदौर हिन्दी साहित्य सम्मेलन में कहा - "भाषा माता के समान है। माता पर हमारा जो प्रेम होना चाहिए, वह लोगों में नहीं है...शिक्षित वर्ग अंग्रेजी के मोह में फँस गया है और अपनी राष्ट्रीय मातृभाषा से उसे असंतोष हो गया है। पहली माता से(अर्थात् अंग्रेजी से) जो दूध मिलता है, उसमें जहर और पानी मिला हुआ है और दूसरी माता से(अर्थात् हिन्दी से) शुद्ध दूध मिलता है। बिना इस शुद्ध दूध के हमारी उन्नति होनी असंभव है। पर जो अंधा है, वह देख नहीं सकता और गुलाम नहीं जानता की अपनी बेड़ियाँ किस तरह तोड़ें।...अब हमें अपनी मातृभाषा को नष्ट करके उसका खून नहीं करना चाहिए। आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का गौरव प्रदान करें।"

गाँधीजी ने इस संदर्भ में दक्षिणी भारतीयों से अनुरोध किया- "आज अंग्रेजी पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए वे जितनी मेहनत करते हैं, उसका आठवाँ हिस्सा भी हिन्दी सीखने में करें, तो बाकी हिन्दुस्तान के जो दरवाजे आज उनके लिए बंद है, वे खुल जायें और वे इस तरह हमारे साथ एक हो जायें, जैसे पहले कभी नहीं थे। कोई भी द्रविड़ यह न सोचे कि हिन्दी सीखना ज़रा भी मुश्किल है। अगर रोज मनोरंजन में से थोड़ा समय निकाला जाये तो साधारण आदमी एक साल में हिन्दी सीख सकता है। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि द्रविड़ बालक अद्भुत सरलता से हिन्दी सीख लेता है।"

विश्वंद्य बापू ने हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा बनाने के लिए 16 जून 1931 के 'यंग इण्डिया' में निम्नलिखित टिप्पणी लिखी-"अगर स्वराज अंग्रेजी बोलने वाले भारतीयों का और उन्हीं के लिए होने वाला हो, तो निःसन्देह अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा होगी, लेकिन अगर स्वराज करोड़ों भूखों मरने वालों का, करोड़ो निरक्षरों का, निरक्षर बहनों और दलितों-अन्त्यजों का हो और इन सबके लिए हो, तो हिन्दी ही एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है।"

स्मिता सरकार

अंकिया तथा झुमुरा

अंकिया तथा झुमुरा असमिया लोक नाट्य की सर्वाधिक विकसित एवं लोकप्रिय विधा है। मध्यकालीन असम में वैष्णव आंदोलन को व्यापक रूप देने के लिए महापुरुष शंकरदेव एवं उनके अनुयायियों ने एक अंक वाले नाटक का प्रचलन किया जिसे 'अंकिया नाट्य' कहा गया। अंकिया लोक नाट्य पर संस्कृत नाटकों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। संस्कृत नाटकों के समान ही इसमें पूर्वरंग, नान्दी श्लोक, प्रस्तावना भरतवाक्य, सूत्रधार आदि की व्यवस्था मिलती है। फिर भी विद्वानों ने इसे लोक शैली का ही नाटक माना है। डॉ. सत्येन्द्र शर्मा ने अंकिया को संस्कृत नाट्य कला से भिन्न नाट्य शैली के रूप में देखा है। डॉ. शर्मा के अनुसार ''संस्कृत नाटक के सूत्रधार के विपरीत अंकिया नाटों के सूत्रधार में ओजापालि तथा पुतला नृत्य के ओजा (सूत्रधार) के लक्षण विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त गीतों का प्राधान्य अंकिया नाटों की अपनी विशेषता है।'' असम में अंकिया नाटों की लोकप्रियता इतनी अधिक है कि अब इसे मात्र मौखिक लोक नाट्य के रूप में ही नहीं बल्कि लिखित नाट्य के रूप में भी ख्याति मिल चुकी है। असम के महापुरुष शंकरदेव ने अनेक अंकिया नाटकों की रचना की है।

भक्त कवि शंकरदेव ने जहाँ अंकिया नाटकों को साहित्यिक गौरव प्रदान किया वहीं उनके शिष्य माधव-देव ने झुमुरा लोक नाट्य की परंपरा विकसित की।

सामान्यतः 'झुमुरा' शब्द बिहार में स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले गीत 'झूमर' का ही दीर्घीकृत रूप है। झुमुरा लोकगीत नृत्य नाट्य की विषय वस्तु पौराणिक होती है। सामान्यतः श्रीकृष्ण के जीवन वृत्त पर आधारित इन गीतों में दैनिक जीवन की व्यावहारिक बातों एवं हास-परिहास का भी समावेश होता है। माधव देव द्वारा रचित झुमुराओं में 'चोरधराझुमुरा', 'पिम्परा गुचोवा झुमरा', 'भोजन व्यवहार झुमुरा', 'रास झुमुरा' आदि प्रमुख हैं। यह स्त्री प्रधान लोक नाट्य है। विभिन्न वाद्य-यंत्रों के सहारे गीत गाती हुई एवं नृत्य करती हुई स्त्रियाँ अनेक भाव भंगिमाओं के साथ अपनी अभिनय कला प्रदर्शित करती हैं।

शंकरदेव एवं माधवदेव के अतिरिक्त द्विजभूषण का 'अजामिल उपाख्यान', रामचरण ठाकुर का 'कंसवध', दैत्यारि ठाकुर का 'स्यामन्त हरण' आदि अनेक अंकिया भाओना हैं। अंकिया नाटकों में लोक नाटकों के विभिन्न उपकरणों का सफलतापूर्वक संगम उपस्थित किया गया है। अंकिया नाटकों में सूत्रधार की प्रमुख भूमिका होती है। डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' के अनुसार ''मध्यकालीन लोकधर्मी नाटकों में प्रायः एक 'समाजी' अथवा 'व्यास' होता था। वह अशिक्षित ग्रामीणों में रस परिपाक की दृष्टि से प्रसंग को उद्‌बोधित रूप में प्रस्तुत करता चलता था।...अंकिया नाटकों के सूत्रधार को भी सर्वाधित मांसल बनाया है मध्यकालीन लोक नाटकों के 'समाजी', 'व्यास' और ओजापालि के 'ओजा' ने।''

अंकिया की रंगशाला :

अंकिया, माओना आदि लोक नाट्य के लिए एक विशेष प्रकार का मंच होता है। जैसा कि लोकनाटकों में होता है, अंकिया के मंच भी शामियाने के बीच होते हैं। मंच के दोनों ओर दर्शक बैठते हैं। मंच के एक छोर पर 'थापना' (सिंहासन और भागवत) रखी जाती है। दूसरे छोर पर गायन-वादन का स्थान होता है। थापना और गायन-वादन के बीच का खुला स्थान ही रंगस्थली होता है। रंगमंच पर पात्रें के प्रवेश और निर्गम स्थान में एक चित्रित पट रहता है।

प्रियासी गगोई

सौन्दर्यानुभूति

सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्यानुभूति की चार अवस्थाओं की तरफ विशेष रूप से संकेत किया गया है- आह्लादकता, ज्ञानमयता, संस्कारमयता और व्यापारमयता। इनमें से कुछ सौन्दर्यशास्त्री एक या दो को महत्व देते हैं और कुछ प्रायः सभी को। ये चारों अवस्थाएँ सौन्दर्य बोध के समग्र हेतु के तौर पर प्रस्तुत की गई हैं। दूसरी तरह से कह सकते हैं कि सौन्दर्य का अनुभव इन्हीं उपादानों के माध्यम से सम्भव होता है। व्यावहारिक जीवन में सौन्दर्य मन की प्रसन्नता का कारण तो है ही लेकिन अपने बढ़ते क्रम में यह विकसित भी होता जाता है। किसी सुन्दर वस्तु, व्यक्ति, अथवा दृश्य को देखकर मन के प्रवाहों की गति में बदलाव आ जाता है। आह्लादकता अथवा प्रसन्नता का सम्बन्ध इसी बदलाव से है। हम किसी भी स्थिति में होते हैं उससे इतर होने की अभीप्सा सदैव बनी रहती है। सदैव और सर्वथा मनुष्य एक ही स्थिति में नहीं रह सकता। यहाँ तक कि अत्यधिक समृद्धि और वैभवलोक में रहने के बावजूद मनुष्य में आत्मतृप्ति नहीं होती। उसे लगता रहता है कि हम बाहर और भीतर से पूर्णतः साधन सम्पन्न होने पर भी स्वाभाविक तौर पर मनोवांछित प्रसन्नता का अनुभव क्यों नहीं कर पाते। हमारी अन्तर्रचना अनेक संवेगों, मनोभावों, संवेदनाओं, संम्भावनाओं, कल्पनाओं और भीत्सित अभीप्सित फलाश्रयों से परिपूर्ण होती है। ये समस्त उपादान अत्यधिक तीव्रतम चंचलता से भरे होते हैं। भौतिक वस्तुओं को देखकर उन्हें प्राप्त कर और उनका उपभोग कर कुछ समय तक के लिये हम प्रसन्नता की अनुभूति करते हैं विषेशकर तब तक के लिए हम अपने को पूर्णतः बदलाव की स्थिति में पाते हैं। उन्हीं प्रक्रियाओं का क्रमशः प्रत्यावर्तन होते जाने से मानसिक शैथिल्य के बोध से आक्रान्त होने लगते हैं। फिर वहीं वस्तुएँ, वहीं मनोभाव और वही संवेग हममें ऊब पैदा लकरेते हैं। एक स्थिति ऐसी आती है कि उनसे वितृष्णा का भाव पैदा हो जाता है। ठीक वैसे ही जैसे प्रतिदिन हम बैगन या कद्दू या शलजम का सेवन करते जाँय तो इनके प्रति विकर्षण और अन्य सब्जियों के प्रति आकर्षण की दशा निर्मित होने लगती है।

भौतिक अथवा व्यावहारिक सौंदर्यानुभूति से पृथक जब हम चेतना के धरातल पर प्रतिष्ठित होने लगते हैं तो एक भिन्न प्रकार का आकर्षण महसूस करते हैं। यहीं ज्ञानमयता की अवस्था है। काण्ट के अनुसार- ‘‘सौंदर्य चिन्तनशील धारणा का आनन्द है। इसका अस्तित्व वस्तुनिष्ठ नहीं है किन्तु इसका उद्देश्य नैतिक शिवत्व का स्थापन है।’’ ‘नैतिक शिवत्व की स्थापना’ तभी संभव है जब हमारी मेधा एक वृहत्तर उद्देश्य के प्रति समर्पित हो। इस समर्पण के फलस्वरूप वस्तु और मानवीय चिन्तन में जो संतुलन की दशा होती है उसका आकर्षण ही निराला होता है। अरस्तू के शब्दों में- ‘‘सौंदर्य आकांक्षा, वासना और

उपयोगिता से की विद्यमानता रहती है। इसका सिद्धांत-सार यह है कि सुन्दर शिव एक नहीं है। ऊपर की वस्तु है तथा सुन्दर वस्तु में आर्डर, सिमेट्री और निश्चयता (डेफिनिटनेस) क्योंकि शिव का अनुभव गति की अवस्था (स्टेट ऑफ मोशन) में होता है और सुन्दर की अनुभूति रिपोज, की अवस्था में।" यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि अरस्तू ने भले ही गति की अवस्था को रिपोज से भिन्न माना है लेकिन रिपोज की बहुत सी स्थितियाँ गति की अवस्था पर ही निर्भर हैं। सौंदर्य के प्रति अरस्तू का अधिकाधिक बल रिपोज मानी अनुकरण पर है जो काव्यानुभूति के निकट है। जबकि काण्ट की दृष्टि में सौंदर्य 'प्रबोधन' की वस्तु है। अरस्तू का ध्यान भावानुकरण के आकर्षण पर केन्द्रित है जबकि काण्ट की दृष्टि में न सिर्फ तर्कातीत ज्ञान अपितु तर्क प्रवण ज्ञान भी सौंदर्य के ही दायरे हमें आता है। इसलिए सौंदर्यानुभूति जीवनानुभूति के समानान्तर ही चला करती है।

सत्यं, शिवं और सुंदरं के विवेचन में अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों ने तीनों को अलग-अलग करके ज्ञान के तीन वांग्मय से सम्बद्ध किया है। यानी सत्य प्रत्ययवाद, शिव व्यवहारवाद तथा सौंदर्य को भाववाद के निकट देखने की बातें कही हैं। वास्तव में सुन्दर उस अन्तिम अवस्था का नाम है जो सत्य और शिव में क्रमशः रूपान्तरित होते हुए काव्यानुभूति का हेतु बनता है। सत्य के अभाव में शिव और शिव के अभाव में सुन्दर की परिकल्पना संभव ही नहीं है। जीवन में और साहित्य में भी प्रायः यह देखा जाता है कि हमें सौंदर्य की अनुभूति तभी होती है जब वास्तव में हमारे भीतर यथार्थ और शिवत्व का बोध होता है। अयथार्थ और अकल्याणकारी योजना न तो जीवन में सौंदर्योत्पादन का कारण बन सकती है और न साहित्य में ही।

डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने सौंदर्यानुभूति को तीन घटकों में बाँटकर अध्ययन का सुझाव दिया है-
(1) कौशल और प्राविधिक ज्ञान, (2) विषयवस्तु के साथ आत्मीय सम्बन्ध, (3) सृजन प्रक्रिया के लक्ष्यों की पकड़।

कौशल और प्राविधिक ज्ञान का सम्बन्ध सामाजिक प्रक्रिया से है। व्यक्ति में सामाजिकता की चेतना का विकास जैसे-जैसे होता जाता है वैसे-वैसे उसमें कुशलता और जीवन पद्धतियों का ज्ञान भी होता रहता है। शुरू-शुरू में उसके संस्कार कोरे कागज की तरह होते हैं। उसमें यह बोध पनपने के साथ कि मैं समाज का एक अंग हूँ, मेरे सुख-दुख में कहीं न कहीं समाज की सहभागिता भी है। विभिन्न प्रकार के सामाजिक मूल्यों से परिचित होते हुए व्यक्ति में विकसित होने की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। मूल्य बोध विकसित होने के इसी क्रम सौंदर्य की प्रतीति परिलक्षित होती है। सौंदर्य अपनी प्रथम अवस्था में ऐन्द्रिक एवं प्रत्यक्ष होता है। आचार्य भट्ट नायक ने 'भुक्तिवाद' के अन्तर्गत रसोत्पत्ति के तीन व्यापारों का उल्लेख किया है-अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा का सम्बन्ध प्रकारान्तर से कौशल प्रविधियों से है, भावकत्व का आत्मीय सम्बन्धों से और भोजकत्व का सृजन प्रक्रिया के लक्ष्यों की पकड़ से।

रसोत्पत्ति की अनुभूति काव्य में बहुत हद तक सौंदर्यानुभूति से पृथक नहीं है। क्योंकि दोनों ही प्रकार की अनुभूतियों का परिणाम आनन्द है। काव्य में प्रतिपादित सौंदर्य का अनुभव समग्रता से होने के कारण हम वैसा ही अनुभव करते हैं जैसा कि इस दशा में साधरणीकरण के फलस्वरूप उत्पन्न आनन्द का। जीवन में सौंदर्य का अनुभव अनुकूल और प्रतिकूल- दोनों प्रकार के परिणाम देता है लेकिन साहित्य में उसके केवल अनुकूल परिणाम ही होते हैं अनेक आचार्यों, समीक्षकों व काव्य मर्मज्ञों ने यह जानने का प्रयत्न किया है कि कोई भी कृति हमें एक विलक्षण प्रकार की अनुभूति से क्यों भर देती है। अनेक रचनाएँ ऐसी होती हैं जो सिर से गुजर जाती हैं लेकिन कुछ कृतियाँ हमारे ऊपर अमिट छाप छोड़ जाती हैं। वे हमें कुछ ऐसा प्रदान कर जाती हैं जो हमारे पास नहीं होता। इसी को आचार्य जगन्नाथ ने अलौकिक अनुभूति एवं लोकोत्तर कहा है।

अभिनवगुप्त ने सौंदर्यानुभूति को ब्रह्मानुभूति से अलग करते हुए भी उसकी महत्ता प्रतिपादित की है। सौंदर्य के अनुभव की अवस्था अनुभावक के संवेग पर निर्भर है।

"सौंदर्यानुभूति को समझने के लिए कलानुभूति की परख आवश्यक है। प्रथमतः कलानुभूति एक ऐसी सुखद अनुभूति है जो सत्य मिथ्या के विधि निषेधों से किंचित ऊपर है। प्रवृत्ति की दृष्टि से यह अनुभूति चयनशील होती है, क्योंकि इसका संबंध आलम्बन के सम्पूर्ण परिसर से न होकर उसके संवेद्य अंश तक सीमित रहता है। अतः कलानुभूति वस्तु विशेष के संवेद्य अशों के चयन पर जीवित रहती है और सुखद अथवा रसात्मक होती है।"

"सौंदर्यानुभुति की दो मुख्य किस्में हैं-उपज्ञात और प्रेरित। उपज्ञात कलानुभूति का सम्बन्ध कारयित्री प्रतिभा से, अतः सहृदय से है। प्रथम कला-सृष्टि के क्षणों की अनुभूति है और द्वितीय कला-दर्शन के क्षणों की। कलानुभूति ही विकास और उपचिति की मात्र के अनुसार हृदय-संवाद, तन्मीयभवन योग्यता और रसानुभव की अवस्थाओं में बदलती रहती है। दूसरे प्रकार की कलानुभूति भोगीकरण प्रधान होती है, जबकि उपज्ञात कलानुभूति में भोग से अधिक महत्व इन तीन कार्यों का रहता है-अनुभूति का निबिड़ीकरण, अनुभूति का मार्जन और अनुभूति की व्याख्या।

उपर्युक्त उद्धरण यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि सौंदर्यानुभूति और कलानुभूति में कोई तात्विक अंतर नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र में कलानुभूति और काव्यानुभूति में अंतर करने का प्रयास अवश्य हुआ है क्योंकि भारतीय आचार्यों ने सदैव कला अथवा सौंदर्य को काव्य की अन्तर्वस्तु नहीं माना है। कला से उनका आशय चमत्कार तक ही सीमित है। काव्यानुभूति महज चमत्कार नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र में संवेदना का धरातल काफी व्यापक है। इस को काव्य की मूल प्रवृत्ति मान लेने पर भावकत्व व्यापार की व्यापकता सिर्फ चमत्कारों तक ही सीमित नहीं रह जाती। वह वैश्विक संवेदना में परिणित हो जाती है। वैयक्तिक मनोभावों का निर्वैयक्तिक हो जाना और व्यष्टि चेतना का विकास समष्टि-चेतना के सापेक्ष जिस अनुभूति को जन्म देता है, वह कला से बहुत ऊपर की चीज होती है। लोक से गृहीत होकर भी लोकोत्तर अवस्था में प्रतिष्ठित होने का उपक्रम भारतीय रस मीमांसा का अहम् लक्ष्य है।

इसके विपरीत पाश्चात्य चिंतकों ने 'सौंदर्य' से ही लोकोत्तरता को पुष्ट किया है। उनकी मान्यता है कि सौंदर्य अभिव्यक्ति में नहीं, वस्तु-विधान और पद्धति में है। इन्होंने केवल चित्रकला और कविता को दृष्टि पथ में रखते हुए सौंदर्य पर विचार करने की चेष्टा की है।

जर्मनी में ही बाउमगार्तेन, काण्ट, हीगेल, आदि ने सौंदर्यानुभूति पर अपने-अपने ढंग से विचार किए हैं। वाउमगार्वेन ने सौंदर्य को प्रकृति का अनुकरण मानते हुए यह कहा है कि सर्वप्रथम प्रकृति की अनुभूति ही सौंदर्य प्रकाशन का मुख्य हेतु है। शॉपेनहावर ने इच्छाओं अथवा 'प्लैटोनिक आइडियाज' के सम्मूर्तन को ही सौंदर्य माना है। रस्किन ने सौंदर्य को ईश्वर की विभूति कहकर मनुष्य में दो प्रवृत्तियों की तरफ संकेत किया है-सहज वृत्ति और काल्पनिक वृत्ति। सौंदर्यानुभूति का सम्बन्ध सहज वृत्ति से होता है।

सामाजिक जीवन के जीवन्त यथार्थ का ऐसा प्रतिबिम्ब है, जो हमें आनन्द ही नहीं प्रसिद्ध चिन्तक बेलिंस्की का सौंदर्यानुभूति के विषय में मत है कि- "सौंदर्य देता, प्रगतिशील होने की प्रेरणा भी देता है।"

इस प्रकार भारतीय एवं पाश्चात्य मतों के आकलन के फलस्वरूप सौंदर्यानुभूति के संबंध में हम निम्नलिखित निष्कर्ष के बिंदुओं को विचारार्थ प्रकट कर सकते हैं।

(1) सौंदर्यानुभूति कलानुभूति का ही पर्याय है।
(2) भारतीय दृष्टि में सौंदर्य का अनुभव काव्य के अनुभव से पृथक।
(3) पाश्चात्य मत में सौंदर्यानुभूति और काव्यानुभूति में कोई अंतर नहीं है।
(4) सौंदर्यानुभूति जीवनानुभूति के ही सापेक्ष हैं।
(5) सौंदर्य का अनुभव अन्तरबाह्य के सम्मिश्रण पर निर्भर है।
(6) आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ बोध के परस्पर एकाकार होने से ही कलात्मक अनुभूति अथवा सौंदर्यानुभूति संभव होती है।

चुमकी गोवाला

शंकरदेव का समाज दर्शन

महापुरुष शंकरदेव के चार रूप परिदृष्ट होते हैं- (1) साहित्यकार, (2) धर्म प्रचारक, (3) समाज सुधारक तथा (4) संस्कृति सेवक। प्रश्न यह है कि इनमें से उनका कौन-सा रूप अधिक उज्ज्वल है। साहित्यकार के रूप में वे महाकवि, नाटककार, गीतकार और आलोचक थे। धर्म प्रचारक के रूप में उन्होंने एक शरणीय भागवती वैष्णव मत द्वारा असम में प्रचलित बलि विधान, जादू-टोने तथा तंत्र-मंत्र से ग्रस्त संपूर्ण समाज को ही बदल दिया था। तंत्र-मंत्र वाले इस समाज में भ्रष्ट आचरण के अतिरिक्त कुछ और भी था, ऐसा लगता ही नहीं था। योगिनी तंत्र तथा कालिका पुराण में इसकी स्पष्ट छवि देखी जा सकती है। शंकरदेव ने ऐसे समाज को इतना साफ-सुथरा बना दिया कि उसका प्रभाव आज तक है। शंकरदेव का संस्कृति-सेवक रूप भी उल्लेखनीय है। वास्तव में धर्म-प्रचार तथा समाज-सुधार हेतु ही शंकरदेव संस्कृति-सेवक के रूप में अवतीर्ण हुए थे। शंकरदेव मूलतः एक कृष्ण-भक्त थे। इसी कृष्ण-भक्ति के प्रचार-प्रसार हेतु इन्होंने जिस प्रकार काव्य और गीतों को अपनाया था-उसी प्रकार नाटक तथा नाट्य मंचन को भी अपनाया था। शंकरदेव ने स्वयं नाटक लिखा भी, अभिनय भी किया तथा नाटक का निर्देशन भी किया था। इस दृष्टि से उन्हें जातीयता का एक महान संगठक कहा जा सकता है।

शंकरदेव के समय का भारत राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत भ्रष्ट था। उस समय तक भारत में विदेशी शासन जम गया था। शासक और शासितों की धर्म-संस्कृति भिन्न-भिन्न थी। शासित प्रजा के धर्म में भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय थे। छुआछूत से सामाजिक जीवन त्रस्त था। ऐसी स्थिति ने विदेशी शासकों को यहाँ पैर पसारने को प्रोत्साहित किया। शंकरदेव के पूर्व असम का समाज, राजनीति तथा धर्म शेष भारत से पूर्णतः अलग था। विदेशियों का आगमन होता रहा, किन्तु यहाँ वे ठहर नहीं पाये। आर्य धर्म के जो लोग वहाँ आये वे अपने धर्म को यहाँ थोप नहीं पाये, यही नहीं अपितु उल्टे उन्हीं को यहाँ के धर्म से प्रभावित होना पड़ता। इसी कारण से बाहर से आये हुए लोग भी यहाँ धार्मिक दृष्टि से भ्रष्ट हो जाते थे। इस संबंध में डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद ने कहा है- "समाज में चातुर्वर्ण्य का महत्व समाप्त हो गया था, तब भी ब्राह्मणों की श्रेष्ठता लोकमान्य थी। वे ही समाज में विद्वान, शास्त्र और धर्माचार्य थे। वे धर्म-भावना के नाम पर समाज में नाना प्रकार की विकृतियाँ फैला रहे थे। यों तो भ्रष्ट सभी जातियाँ हो गई थीं, पर ब्राह्मणों का भ्रष्ट हो जाना अधिक चिंत्य था। भक्ति उनके कान में पड़ती ही नहीं थी। वे केवल भोजन भट्ट हो गये थे। ब्राह्मण मदिरा पान करने लगे थे। धर्म साधना के नाम पर तंत्र-मंत्र-यंत्र और कृच्छाचार का बोलबाला था। लोग हंस-छाग काटते थे। भैरव की पूजा में नरबलि दी जाती थी। तीर्थ-व्रत, वृक्ष पूजा, सर्प पूजा आदि का प्रचलन था। यज्ञ, जप-तप-योग साधन का प्रचलन था।" शंकरदेव ने भक्ति की तुलना में इन सबको हेय मानकर लोगों को समझाया था। समाज में दो ही मुख्य वर्ग थे-एक राजा या सामंत वर्ग, दूसरा पुरोहित वर्ग। साधारण प्रजा इन दोनों वर्गों से शोषित तथा उत्पीड़ित थी। राजा या सामंतों का प्रजा के साथ कोई सीधा सम्पर्क नहीं था।

दूसरी ओर प्रजा के कल्याण हेतु राजा का कर्तव्य भी कुछ नहीं था। धर्म के नाम पर पुरोहित वर्ग भी उनका शोषण करता था। धर्म के नाम पर इनमें भूत-प्रेत तथा तंत्र-मंत्र आदि का बोलबाला था तथा अनेक प्रकार के अंधविश्वासों ने घर कर लिया था। धर्म के नाम पर निम्न वर्ग की नरबलि तक होती थी। इस प्रकार राज-शोषण और उच्च वर्ग के शोषण से सामान्य जन पीड़ित, दमित होकर दीन-हीन दशा को प्राप्त कर चुका था।

शंकरपूर्व असम की धार्मिक स्थिति पर साहित्यरथी लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा ने लिखा है - "शंकरदेव जब धर्म प्रचार कर रहे थे, उस काल में या उससे पूर्व असम में तांत्रिक, शाक्त हिन्दू धर्म का प्रभाव था, जिसने असभ्य जातियों की घिनौनी धर्म-प्रथा के साथ मिलकर अधोगति प्राप्त कर ली थी, जो कालान्तर में अत्यंत घृणित हो गयी थी।" अर्थात् उन दिनों प्रचलित सामाजिक पूजा-विधि ने निम्न वर्गों के मानवीय अधिकारों को छीन लिया था। इसका उल्लेख सभी विद्वान ने किया है। यह ठीक है कि तांत्रिकता या वामाचार ने बौद्ध धर्म के विकृत रूप से प्रभावित होकर हमारे धर्म में प्रवेश किया था। यही नहीं अपितु जन-जीवन में प्रचलित पूजा-विधि का प्रवेश वैष्णव शैव-शाक्त, वैदिक मत सभी मतों में हो गया था, जिससे इनमें विकृति आ गयी थी। डॉ. शिवनाथ वर्मण ने अपने ग्रंथ में इसका उल्लेख किया है-"विष्णु के विभिन्न अवतार वास्तव में भारत के विभिन्न अंचलों में विस्तृत जन-गोष्ठियों को अपना लेने का परिणाम है।" यानी मत्स्य, कूर्म, वराह आदि अवतारों के मूल में जन-गोष्ठियों के अपने-अपने टोटेम देवता हैं। शेष अवतारों के संबंध में यही कहा जा सकता है कि ये सभी अंचल विशेष के देवता थे। बुद्धदेव को दृष्टि में रख कर भी इसे स्पष्ट किया जा सकता है। बुद्धदेव नास्तिक थे, अथच शंकरदेव ने दशावतारों में बुद्धदेव को अन्यतम अवतार मान लिया। शिव एक जनगोष्ठीय देवता है, परन्तु हिन्दू धर्म में रुद्र का ही एक अन्य नाम शशिवश मानकर उसे अपना लिया गया।

यह भी सच है कि शंकरदेव से पहले वैष्णव मत का प्रचार यहाँ था, किन्तु वह सीमित रूप में था, जिसके फलस्वरूप हरिहर विप्र, माधव कंदली जैसे लोगों ने वैष्णव काव्य रचने की प्रेरणा प्राप्त की थी।

स्थानीय देवी-देवताओं के अतिरिक्त यहाँ शैव मत का प्राबल्य था। शैव मत की इस प्रबलता को रोककर नरकासुर ने यहाँ देवी पूजा की प्रतिष्ठा की। किन्तु शंकरदेव के समय तक देवी पूजा का प्रचलन यहाँ पुनः कम हो गया था और उसके स्थान पर शैव मत का व्यापक प्रचार होने लगा था। ध्यातव्य है कि शिव यहाँ के प्रायः सभी उपजातियों के उपास्य देवता थे। उन्हें अपने पूर्वज के रूप में पूजा जाता था। विभिन्न नामों से परिचित शिव को ये लोग मदिरा तथा मांस आदि से पूजते थे । इसका प्रमाण असम के इतिहास में भी है। इसका नतीजा यह हुआ कि आर्यवर्त से आये वैदिक मतावलम्बी शिव भक्तगण तथा शाक्त भक्तगण भी उन्हीं से प्रभावित होकर मांस-मदिरा तथा बलि-विधान से शिवजी को पूजने लगे। वास्तव में बामाचार - भूत-प्रेतवाली पूजा, शैव मत तथा शाक्त मत के मेल से विकसित हुई।

इन परिस्थितियों को देखकर शंकरदेव अत्यंत व्यथित हुए। इसी बीच वे जब विद्याध्ययन कर रहे थे तो उनका सीधा सम्पर्क भागवत आदि शास्त्रें द्वारा देश के पश्चिमी अंचल से हुआ। इन ग्रंथों से वे इतना प्रभावित हुए कि छात्रवस्था में ही मार्कण्डेय पुराण के आधार पर 'हरिश्चन्द्र उपाख्यान' नामक काव्य ग्रंथ रच डाला, जिसमें विष्णु को ही एकमात्र देव माना गया है।

विष्णु वेदों में एक कृषि देवता है - जिनका सम्पर्क गायों से था। इस विष्णु के अवतार कृष्ण तो गोपाल ही थे। डॉ. वर्मण ने कहा- "वैष्णव धर्म भी पहले किसी गोपालक समाज का धर्म था।" वैष्णव धर्म के मूल देवता विष्णु की तरह कृष्ण भी पशु रक्षक देवता थे। श्री—ष्ण का गोपालक रूप, वैष्णव धर्म के साथ जुड़े गोकुल, गोलोक, गोपाल, गोविन्द, गोवर्धन आदि शब्दों से भी सूचित होता है। वैष्णव मत सही माने में जनधर्म

है, कृषक धर्म है। कृष्ण भले ही अनेक राजा-महाराजाओं के संपर्क में रहे हों, किन्तु वास्तविक जीवन में श्रीकृष्ण का संपर्क केवल गौ और गोपालकों से रहा था, साथ ही वे समाज के उत्पीड़ित, शोषित वर्गों के साथी थे, चाहे वह विदूर हो, विप्र दामोदर हो या पांडवगण हों। उन दिनों की भाषा में कृष्ण ने सदा धर्म तथा धार्मिकों का साथ दिया।

शंकरदेव ने अपने मत में अन्य भारतीय वैष्णव सम्प्रदायों की तरह राधा को, स्थान नहीं दिया, न भक्त मंडली में नारी के लिए कोई स्थान रखा, जैसाकि नारियों के लिए भक्तों के साथ एक संग बैठकर कीर्तन करने की प्रथा भी नहीं रखी। किन्हीं सत्रों में 'केवलीया' भक्तों को सत्र के आवास में रहने दिया जाता है, किन्तु उसमें भी नारी को स्थान नहीं दिया गया। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि शंकरदेव के मन में नारी के प्रति बुरी भावना थी। इसका एकमात्र उद्देश्य था अपने मत को पतित होने से बचाना। नारी के प्रति इनका मन बहुत उदार था, इसीलिए इन्होंने केवल राधिका ही नहीं अपितु किसी भी नारी के प्रति अवज्ञा की भावना नहीं दिखायी।

वास्तव में शंकरदेव का उद्देश्य केवल अपने मत का प्रचार करना नहीं था, अशुचि से युक्त गंदे समाज को सब प्रकार से शुचिता का पाठ पढ़ाना भी था। संभवतः इन्हीं कारणों से असम के 'एक शरण भागवती समाज' में इतनी स्वच्छता है कि सारे भारत भर ऐसा दूसरा उदाहरण प्राप्त नहीं होगा। दीक्षा प्राप्त एक व्यक्ति के लिए स्वच्छता का पाठ सुबह बिस्तर छोड़ने से लेकर रात को लेटने तक का होता था। यह इस कारण संभव हो सका, क्योंकि शंकरदेव अकेले ही एक संस्थान थे। शंकरदेव स्वयं एक संस्था थे, एक जीती-जागती संस्कृति के प्रतीक थे। इसी कारण एक आलोचक ने कहा है- "सुमधुर संगीत का झरना है शंकर, कायिक सौष्ठव का आदर्श है शंकर, नाट और नृत्य के प्रतीक है शंकर, नान्दनिक कला के आधार है शंकर, विद्वान पंडित थे शंकर, न्यायायिक थे शंकर, महान कलाकार थे शंकर, संत और भक्त थे शंकर, काव्य और दर्शन के युग प्रवर्तक थे शंकर।" इसी कारण से विगत पाँच सौ वर्षों तक उनकी प्रतिभा का पुनराविष्कार होता रहा। भारत के दो हजार वषह्नय इतिहास में शंकरदेव की तरह प्रतिभावान अन्य कोई नहीं है, किन्तु खेद है कि ऐसी बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति को हम संसार से क्या, भारत से ही हम परिचित नहीं करा पाये। इस महामानव ने मानवतां का ही गीत नहीं गाया, अपितु मनुष्येतर प्राणियों के प्रति भी इनका समभाव था। वे कहते हैं-

कुकुर चण्डाल गर्दभरो आत्मा राम।
जानिया सबाको परि करिबा प्रणाम॥

कबीर, नानक आदि ने निम्न जाति वाले मानवों को समकक्षता देने का प्रयत्न किया था, परन्तु उसमें वे पूरी तरह सफल नहीं हो सके, किन्तु शंकरदेव ने नागा, गारो, भोट, केवत, मुसलमान आदि को भी समकक्षता प्रदान की, जिससे उन्हें पूर्ण सफलता मिली। उन उपजातीय भक्तों को उन्होंने गुरु का पद भी प्रदान किया था। नागा जाति का नरोत्तम आतै, गारो का गोविन्द आतै, केवर्त का जयहरि आतै उच्चकोटि के भक्त गुरु थे। यदि शंकरदेव द्वारा बनाई गई यह व्यवस्था आज तक बरकरार रहती तो इस दिशा में भी असम एक आदर्श राज्य बना रहता। इन गुरुओं द्वारा स्थापित धर्मानुष्ठान (सत्र) आज भी विभिन्न अंचलों में हैं। ईसाई मिशनरियों के चंगुल में फंसने से पूर्व स्वतंत्रता के बाद तक नागा, गारो और भूटान आदि के हजारों लोग एक शरणीया मत की ध्वजा यहाँ फहरा रहे थे। आगे चलकर एक शरणीया मत के जो ध्वजवाहक हुए, वे प्रायः सामान्य जीवन जीने वालों में से ही थे। इनके शिष्यों में से पान व्यवसायी माधवदेव, कृषक दामोदर देव, व्यवसायी किसान नारायण दास, बंधुवा श्रीराम, भक्ति रस में मत्त सर्वजय, दरजी चान्द खाँ, किसान गोविन्द आदि थे। सामान्य-जीवन जीने वालों में से यदि शंकर ने अपने शिष्यों को नहीं लिया होता तो यह भूमि आज भी अनुदार-अंधविश्वासी रही होती अथवा ईसाई मिशनरियों का क्रॉस चिह्न यहाँ भी हर व्यक्ति के गले में लटका दिखाई देता। शंकरदेव की इस महान मौन

क्रांति में उच्च जात्याभिमानी व्यक्ति न होकर निम्न वग के लोग थे, जिसके कारण उन्हें अपने मत का प्रचार करने में ऐसी सफलता मिली और यदि ऐसा नहीं होता तो एक संस्कृतिवान समाज की स्थापना यहाँ नहीं होती।

शंकरदेव के समय तक यहाँ दो प्रकार का शासन चलने लगा। प्रथम प्रकार का शासन था- राजा का शासन, जिनके साथ केवल पुरोहित वर्ग था, दूसरे प्रकार का शासन था- शंकरदेव का शासन, जिनके धर्म राज्य में समाज के शोषित-पीड़ित यानी सामान्य वर्ग के लोग थे। शंकर की प्रेमपूर्ण भुजाओं में इन्हें निर्भय आश्रय मिला था। शंकरदेव के मत को लेकर यहाँ स्थान-स्थान पर सत्रों की प्रतिष्ठा हुई, जहाँ केवल धर्म चर्चा ही नहीं होती, अपितु अन्य सामुदायिक क्रियाकलाप भी होते। वह इस प्रकार की संस्था थी, जिसमें धर्म चर्चा के अतिरिक्त एक स्वावलंबी तथा सामुदायिक जीवन का प्रशिक्षण प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त वह न्यायालय भी था तथा पुस्तकालय भी था। शंकरदेव के मत में कर्मानुसार जाति-सम्प्रदाय के भेद नहीं था। सब कोई सब कुछ कर्म कर सकता था। इसी कारण से जुलाहा, दर्जी, सोनार आदि का काम सब कोई करता या कर सकता था। शंकरदेव की धर्म धारण पद्धति भी अत्यंत सहज-सरल थी। इसमें षोडषोपचार का कहीं कोई स्थान नहीं था। धर्म के नाना आचार-अनुष्ठान के नाम पर सामान्य लोगों को अपराध कर्म करने की व्यवस्था नहीं थी। श्रद्धापूर्वक हरि नाम लेने से सब कुछ हो जाता है। तीर्थ-व्रत-श्राद्ध-विधि की आवश्यकता भी वे अनुभव नहीं करते, किन्तु अचानक सब कुछ उलट-फेर कर देने से रूढ़िवादी समाज में विद्रोह फैल सकता है, इसी डर से शंकर ने इस ओर संभल-संभलकर कदम रखे, किन्तु उनकी वाणी में उनकी धारणाएँ स्पष्ट रूप से समाविष्ट हो गयी थीं। यथा-

वेदर बिहित कर्म करिबाक
भकतर योग्य नुइ
यदि मोह हुया करे कर्म धर्म
भकतित भ्रष्ट हुई। (भक्ति प्रदीप)

अर्थात् वेद द्वारा निर्धारित कर्म भक्त को करना नहीं चाहिए। हाँ, यदि किसी मोह में पड़कर ऐसा किया तो भक्ति से भ्रष्ट हो जाता है। माधवदेव ने भी कहा था-

महापुरुष श्रीमत
वेदर बिहित जत आछे कर्म संसारत
सबे हरिनामर किंकर।
नजानि जितो जने नामर कीर्तन करे
सेहि से परम साधु नर॥(नामघोषा)

इन पंक्तियों का अर्थ यही हुआ कि हरि नाम ही सब कुछ है। इस प्रकार भक्ति मत का मूल आदर्श है तो वेद विरोधी, किन्तु इन भक्तों ने पारंपरिक सामाजिक स्थिति को देखते हुए सीधे वेद का विरोध नहीं किया था।

विष्णु या कृष्ण को छोड़ अन्य देवों के साथ भक्त का सीधा संपर्क नहीं होता। दुर्गा, काली, शिव, गणेश आदि की मूर्तियों को देखते या कल्पना करते मन में जिस तरह भय की एक भावना जाग्रत होती है, किन्तु विष्णु या कृष्ण का स्मरण करने या मूर्तियों को देखने से मन में एक स्वच्छता, नम्रता की भावना आ जाती है। यह भक्ति आन्दोलन की उनकी एक महान देन है। भक्ति सर्वदा आकांक्षा रहित होती है। ऐसाकि भक्त मुक्ति से भी निस्पृह होता है। इसी कारण से कुछ कर्मकांडियों को छोड़ यहाँ के सभी श्रेष्ठ लोग शंकरदेव या उनके शिष्य दामोदरदेव के शिष्य बन गये थे, जो सीधे शकरदेव के शिष्य नहीं थे, वे भी शंकरदेव को गुरु न सही ईश्वर का अवतार मानते थे। जैसाकि महाकवि राम सरस्वती ने कहा है-

श्रीमंत शंकर आपुनि ईश्वर
नर रूपे भैला जात।

विभागीय गतिविधियाँ

तिनसुकिया : गणेश जन्मोत्सव पर निकाली शोभायात्रा की झलक।

कॉलेज में हिंदी दिवस पर निबंध व कविता लेखन स्पर्द्धा

गोलाघाट, 19 सितंबर (वि.सं.)। गोलाघाट वाणिज्य महाविद्यालय में हिंदी विभाग द्वारा गत 14 सितंबर को हिंदी दिवस पर विद्यार्थियों के बीच निबंध और कविता लेखन प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। महाविद्यालय के हिंदी विभाग द्वारा आयोजित इस प्रतियोगिता में निबंध का विषय नई शिक्षा नीति और हिन्दी भाषा थी और कविता का विषय राष्ट्रभाषा हिन्दी दिवस पर रखा गया। निबंध में आशीष बोड़ो (बीए प्रथम सेमेस्टर) ने प्रथम पुरस्कार, कुमारी प्रियाश्री गोगोई (बीए तृतीय सेमेस्टर) ने द्वितीय पुरस्कार और अनुभव कुमार झा (बीए प्रथम सेमेस्टर) ने तृतीय पुरस्कार प्राप्त किया। कविता प्रतियोगिता में सुमन जयसवाल (बीए प्रथम सेमेस्टर) ने प्रथम पुरस्कार, पार्वी कछारी (बी.कॉम. प्रथम सेमेस्टर) ने द्वितीय पुरस्कार और रिंकी कुमारी गुप्ता (बीए प्रथम सेमेस्टर) ने तृतीय पुरस्कार प्राप्त किया। आयोजन समिति के डॉ. जोयटी दुवरा, विभागाध्यक्ष और मालती बांगठार, सहायक अध्यापिका ने सभी प्रतिभागियों को बधाई दी।

गोलाघाट के फुटपाथों पर हो रहा अतिक्रमण

गोलाघाट, 19 सितंबर (वि.सं.)। बढ़ती जनसंख्या और घटती खाली भूमि ने लोगों के समक्ष परेशानियां उत्पन्न करनी शुरू कर दी है। गोलाघाट के नगर अंचल में इस तरह के नजारे आम हो गए हैं क्योंकि जगह की कमी और बढ़ती प्रतियोगिता के दौर में लोग अपनी पक्की दुकानों को फुटपाथों पर उतारने से बाज नहीं आते। जी हां! मुख्य बाजार, जहां पार्किंग के बाद सड़क सिकुड़ सी जाती है और उसके बाद वन-वे गाड़ियों का आवागमन चलता ही रहता है, के बीच जब राहगीर फुटपाथ पर चलने की कोशिश करता है